

आधुनिक विश्व में एक उत्तर-औपनिवेशिक विद्यालय

□ सोम मजूमदार एवं नीता कुमार

अनुवाद : अरिन्दम साहा

यह निबन्ध एक विद्यालय के बारे में है जो न केवल एक शैक्षिक परियोजना का प्रतिफल था, बल्कि एक ऐतिहासिक हस्तक्षेप भी था। इस विद्यालय पर चर्चा शिक्षा के इतिहास को बाकी इतिहास के संदर्भ में देखने का उपक्रम है। साथ ही एक प्रांतीय शहर में नये ज्ञान के साथ आधुनिकता की प्रकृति को समझने की कोशिश है जो उत्तर-औपनिवेशिक सैद्धांतिक व व्यावहारिक दृष्टिकोण के निर्माण में मदद करती है। लेखकों के अनुसार उत्तर-औपनिवेशिक होने का अर्थ है औपनिवेशिक संरचना के बार-बार बनने के चक्र को तोड़ना और पढ़ाने व सीखने के नये तरीकों को गढ़ने का प्रयास करना। इसका अर्थ हुआ व्यर्थ हावी औपनिवेशिक रिश्तों का विरोध करना व इन्हें उलट देना।

1990 में स्थापित यह विद्यालय प्रारंभ में साउथ प्वाइंट विद्याश्रम कहा जाता था, बाद में इसका नाम बदल कर विद्याश्रम-साउथ प्वाइंट कर दिया गया। शुरु में यह केवल प्री-नर्सरी से कक्षा पांच तक बालक एवं बालिकाओं के लिए ही था। इसकी स्थापना एक ऐसे प्रांतीय शहर में हुई जहां से इसके संस्थापकों का कोई संबंध नहीं था। इस विद्यालय की स्थापना जीवन या राष्ट्र निर्माण के किसी वृहद दर्शन को अभिव्यक्त करने के लिए नहीं हुई थी। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं था जो भारत के इतिहास या अतीत के प्रति कुछ इंगित करता हो, न ही कुछ ऐसा जो भविष्य की दिशा को निर्धारित करे। संस्थापकों की कमेटी के सदस्यों के उस छोटे से समूह में गंभीर किस्म के लोग थे जो कई मोर्चों पर प्रगति के लिए उत्साहित थे। परन्तु वृहत्तर उद्देश्यों के प्रति वे सावधान थे। संभवतया वैचारिक स्तर पर वे शायद आपस में तर्क-वितर्क करें कि आगे आने वाले समय में न केवल वे स्वयं बल्कि उनके महत्वपूर्ण उद्देश्य वाले कार्य भी उनके साथ ही खत्म हो जायेंगे तथा तब न केवल उनके प्रयास व्यर्थ जायेंगे वरन्, वे यह भी दावा नहीं कर पायेंगे कि इन कार्यों द्वारा जीवन की समस्याओं के हल खोजे गये। वे या कम से कम इस पर्व के लेखक – उद्धारकों, दूरदर्शियों, विचारकों या विभिन्न मिशनरियों के उद्देश्यों से कभी भी संतुष्ट नहीं हुये। उनका एक मात्र लक्ष्य था – एक कार्य को बेहतर ढंग से करना। (इस सबका क्या मतलब हो सकता है?)

संभवतः उस विद्यालय की स्थापना किन्हीं सहज क्षणों में हुई थी जबकि हमने, (इसके आगे से लेखकगण केवल अपनी बात ही रखेंगे) अपने आपको समझाया कि विचारवान लोगों को भी क्रियाशील होना चाहिए। माता-पिता होने की जिम्मेदारियों के रूप

में हमारी सतत समस्या थी नौ वर्षीय व चार वर्षीय बेटियों की शिक्षा-दीक्षा, वह भी एक ऐसे शहर में जहां के एक दर्जन से अधिक 'प्रसिद्ध' विद्यालयों में जांच के बाद उनके पढ़ाने के आक्रामक तरीकों के बारे में जाना, जो कि उस समय हमारे लिये काफी अनजाने थे तथा जो वर्षों तक किये गये शिक्षा संबंधी औपचारिक शोध से स्पष्ट हुए। भारतीय होने के नाते, जब भी हम उपनिवेशवाद के आज के हमारे जीवन में प्रभाव की विसंगति पर चर्चा करते हैं तो एक प्रश्न का सामना करते हैं कि – “हम इस बारे में क्या कर रहे हैं?” और निश्चित ही तब एक आश्वासन और गर्व का अनुभव करते हैं। प्रशिक्षित स्कूल शिक्षक न होते हुए भी हमें साहित्य, दर्शन तथा समाज विज्ञान विषयों का पर्याप्त ज्ञान था, तथा अपने अवलोकन व सीखने की क्षमताओं पर भरोसा, क्योंकि हमने अपने-आप को बच्चों को पढ़ाने का तरीका सिखाया। अतएव हमने यह माना कि 'शिक्षा' के नाम पर जिस तरह की गतिविधियां हमारे आसपास हो रही हैं उसमें सुधार तब तक संभव नहीं है जब तक कि एक सुविचारित प्रयास न किया जाये।

अतः स्कूल की नींव रखने का उद्देश्य एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना था जो हमारे आसपास दिख रही संस्थाओं के वातावरण से अलग हो, जहां बच्चों को सीखते हुए, पढ़ते हुए प्रसन्नता व सुविधा का बोध हो सके। जहां बच्चों पर शासनकारी व्यवस्था का दबाव नहीं हो और न ही उन्हें व्यर्थ परीक्षाओं व रटन-विद्या से गुजरना पड़े। एक ऐसा स्थान जहां का सुन्दर व हरा-भरा विस्तार शिक्षार्थियों से परिपूर्ण हो, और जहां वे सभी अपने आस-पास के परिवेश के लिए हर तरह से उत्तरदायी हों।

इसका अनुभव हमें बाद में हुआ कि इस विद्यालय को उत्तर-औपनिवेशिक कहा जा सकता है । जिस प्रकार उपनिवेशवाद प्राकृतिक या हठात् नहीं था (इसे होना था ऐसा भी नहीं था और यह केवल संयोग रहा हो ऐसा भी नहीं था), उसी प्रकार उत्तर-औपनिवेशिकता इतिहास का एक टुकड़ा मात्र हो ऐसा भी नहीं है। यह विचारकों व आलोचकों तथा पेशेवरों व सामान्य जनता द्वारा सुनियोजित तरीके से बनाया गया है । विद्याश्रम साउथ प्वाइंट एक ऐसा विद्यालय है जो कि सक्रिय होकर उत्तर औपनिवेशिक होने का प्रयास कर रहा है । इसके दो स्तर हैं । पहला - हम उपनिवेशवाद को सीखने-सिखाने की गलत तकनीक के लिए जिम्मेदार मानते हैं जहां पाठ्यपुस्तकों पर अत्यधिक निर्भरता, परीक्षाएं, शिक्षकों का अधिनायकवादी रवैया, निर्भरतापरक मानसिकता तथा पाठ एवं अनुभव को जोड़ पाने की अक्षमता आदि प्रमुख हैं । उत्तर-औपनिवेशिक होने का अर्थ हुआ इस औपनिवेशिक संरचना के बार-बार बनने के चक्र को तोड़ना और पढ़ाने व सीखने के नये तरीकों को गढ़ने का प्रयास करना (जो कि इस संसार में नये नहीं है वरन उपनिवेश में नये हैं) । दूसरा उपनिवेशवाद को हम एक ऐसे संबंध की तरह मानते हैं जो कि हमारे आपसी रिश्ते पर पूरी तरह हावी हो चुका है । इसका असर इतना ज्यादा है कि व्यक्ति अपने इतिहास एवं उसमें बने विमर्श को फेंक डालता/डालती है। उत्तर-औपनिवेशिक होने का अर्थ हुआ व्यर्थ हावी इन रिश्तों का विरोध करना व इन्हें उलट देना । ऐसा किस-किस तरीके से किया जाए इसकी चर्चा आगे की जायेगी ।

इन बारह वर्षों में यह विद्यालय कक्षा 10 तक हो गया है बिल्कुल हमारी बड़ी बेटी की तरह जो कि इस विद्यालय की शुरूआत में कक्षा 5 में थी और अब वह कालेज तक की पढ़ाई पूरी कर चुकी है। विद्यालय अपने विद्यार्थियों के साथ सफल रहा है क्योंकि सभी विद्यार्थी सक्रिय शिक्षार्थी बन चुके हैं जो हमेशा पहल करने में विश्वास रखते हैं तथा अच्छे-अच्छे हाई-स्कूलों व कॉलेजों में पहुँच गये हैं । परन्तु इसमें कभी भी बहुत अधिक संख्या में शिक्षार्थी नहीं थे, और ज्यादातर कुछ वर्षों बाद ऐसी विद्यालयी शिक्षा से जुड़ गये जो कि मुख्यधारा से और करीब थी । वर्षों से ही इसे वित्तीय कोष की तथा एक स्थायी शिक्षक समूह की समस्या रही है । इस विद्यालय ने शहर के सामाजिक जीवन में कोई बड़ा बदलाव नहीं पैदा किया और अभी तक यह माता-पिता एवं अभिभावकों के द्वारा शंका और गलतफहमियों का शिकार होता रहा है । फिर भी इसने अपने सरल अथवा जटिल लक्ष्यों के साथ कोई समझौता नहीं किया जो पूरी तरह से बाल-केंद्रित व उत्तर-

औपनिवेशिक हैं । नीचे विभिन्न उपशीर्षकों के तहत इस बात की चर्चा हुई है कि एक ऐसा स्कूल जिसे हम उत्तर-औपनिवेशिक कह रहे हैं और जो ऐसे संदर्भों से 'आधुनिक' कहा जा सकता है, वह इतिहास के विषय में हमें क्या सिखा सकता है ?

स्थान, सुन्दरता व गंदगी

जब आप विद्याश्रम साउथ प्वाइंट में प्रवेश करते हैं तो आप एक सुन्दर, हरी-भरी एवं छायादार जगह को पाते हैं । हम स्वतः ही बाहरी वातावरण से इसका अन्तर महसूस कर पाते हैं और शायद कुछ ऐसा बुदबुदाते हैं कि "एक विद्यालय ऐसा ही होना चाहिए" । ज्यादातर लोग हरियाली पर टिप्पणी नहीं करते । संभवतया यदि वे ऐसा कहते तो उन्हें आगे और भी टिप्पणियां करनी पड़ेंगी कि यह हरियाली कैसे स्थापित की जा सकी, वह भी तब जबकि इसकी दीवारों के बाहर की दुनियां में इतना कूड़ा-करकट भरा हुआ है ।

इस स्कूल के वातावरण के विपरीत इस शहर के तमाम विद्यालयों में हरियाली व साफ-सुथरे स्थान का अभाव है । कुछ स्कूलों में बड़े मैदान हैं जो कि उत्साही बच्चों द्वारा काम में आते हैं । बच्चों की यह खुशी इस शहर के उन वयस्क बाशिन्दों के साथ-साथ ही चलती है जो कि शहर के नर्क में, जिसमें वे रहते हैं, परिवर्तन लाने की बात देख ही नहीं पाते । वयस्क लोग शहर में रहने की अपनी आजादी की बात करते नहीं अघाते, जिसका मतलब शायद यह है कि वे जहां चाहें कूड़ा फेंके, थूके और पेशाब करें । विद्यालयों में बच्चे भी इसी तरह की आजादी पाते हैं और विद्यालय उन्हें नागरिकता व जिम्मेदारी की भावनाओं में अनुशासित करने की अपर्याप्त कोशिश करते हैं, जो कि उनका प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए । विद्यालय आधुनिकीकरण एवं राष्ट्र-निर्माण के वाहक हैं परन्तु उनके माहौल व शहर के सार्वजनिक माहौल इसमें सफलता नहीं दर्शा पाते हैं ।

इस बात का एक साधारण सबूत इस कस्बाई शहर में स्थित एक आधुनिक कॉलोनी (आवासीय परिसर) है जो कि किसी झोपड़पट्टी जितनी ही कूड़ा-करकट से त्रस्त है । इस आवासीय परिसर में हर प्रकार के शिक्षित, सुव्यवस्थित और सम्पन्न लोग शहर के बेहतरीन अस्पतालों के डॉक्टर, आयुर्वेदाचार्य, प्रोफेसर व आधुनिक संस्थाओं के शिक्षक, संस्कृतज्ञ, व्यापारी, सरकारी अफसर, गैर-सरकारी अधिकारी, विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राएँ तथा विदेशी विद्वान रहते हैं । फिर भी, कॉलोनी का परिसर, खासकर के बीच की वह बड़ी खाली जगह, जो कि पार्क के नाम पर छोड़ी गयी है, वह ठहरे हुए पानी, कीचड़, बढ़ी हुई घास तथा तमाम घरों के कूड़ा-करकट का एक विशाल तथा शोचनीय ढेर है । इस कॉलोनी के किसी भी व्यक्ति को अपनी नागरिक जिम्मेदारी का जरा भी ज्ञान नहीं है ।

दो प्रश्न इस समय उठते हैं - यदि आपके पास ऐसा कोई स्थान है जो कि अलग तरह का है तो वह इन कूड़ा-करकटों से भरे स्थान के बारे में क्या स्पष्टीकरण देता है ? और - इस उदाहरण से गंदगी संबंधी नियमों के बदलाव को लेकर क्या-क्या पाठ सीखे जा सकते हैं ?

हर सार्वजनिक स्थल पर गंदगी की घुसपैठ को हम संस्कृति, इतिहास व प्रकृति के एक सम्मिलित परिणाम की तरह देख सकते हैं। संस्कृति : अर्थात् जाति व्यवस्था तथा कर्मकाण्ड जो कि विभाजन, ऊँच-नीच तथा प्रदूषण को जन्म देते हैं। इतिहास : ये व्यवस्थाएँ औपनिवेशिक शासन के दौरान कमजोर होने के बजाय बड़े ही चुनिंदा ढंग से मजबूत हुई हैं। इसके अलावा 'मेरा अपना' जैसे विचार को और बढ़ावा मिला क्योंकि औपनिवेशिक शासन के दौरान, जो कि विदेशी तथा आक्रांता था, और 'बाहरी' स्थान, जो कि अपना नहीं था, के भाव का विकास हुआ। निर्भरता के लक्षण भी उभर कर आए, चूंकि यह स्वयं की नहीं बल्कि 'आका' राज्य की जिम्मेदारी थी कि जनसामान्य व जन-जीवन का ध्यान रखा जाये, नागरिक गतिविधि की व्यवस्था हर स्तर पर चरमरा गयी तथा स्थान-स्थान पर गंदगी व्याप्त हो गयी। प्रकृति: बाहरी, दृष्टि विहीन और वस्तुनिष्ठ नियमों के प्रति आज्ञाकारी होकर आधुनिक होने का हमारा बोध 'सहज' नहीं होता है, उधार लिया गया और रट-रट कर आत्मसात् किया गया होता है। यह 'स्वाभाविक' ही है कि जो वस्तु बेकार है उसे कहीं भी फेंक दिया जाए। पर यह इतना गलत क्यों है, जबकि शहर का हर व्यक्ति ऐसा करता है, बजाए कि एक विशिष्ट रूप से नियोजित ढंग से करने के ? ऐसा नहीं होगा, तब तक, जब तक कि ढंग के नियम बने हुए हों, सबको सिखाए गये हों, और इनके उल्लंघन न किये जाने का ध्यान रखा जाए। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक-प्रणाली और इंटरनेट संस्थानों को छोड़कर, समकालीन आधुनिकता के नियम प्रांतीय भारत में न तो बने, ना सिखाये गये, ना ही लागू किये गये।

जन-जीवन में गंदगी के प्रभुत्व को खत्म करने का सबसे सरल तरीका है - कुछ नियम बनाना, सिखाना और लागू करना। बनारस के अधिकांश आधुनिक विद्यालयों ने ऐसा नहीं किया है। जिन्होंने किया है उन्हें अब इस समस्या के दूसरे चरण का सामना करना पड़ रहा है कि उन नियमों को 'स्वाभाविक' कैसे बनाया जाए ? अनुशासित विद्यालयों के बच्चों के व्यवहार का अध्ययन करने पर पाया गया कि विद्यालय के परिसर के बाहर उनका व्यवहार एकदम बदल जाता है। वे कुछ नियमों को केवल विद्यालय में ही मान्य समझते हैं और उस स्थान से निकलते ही दूसरी तरह की सोच अपना लेते हैं। यह जगह व समय दोनों की समस्या है। चिन्तामणि मुखर्जी, जो स्थानीय एंग्लो-बंगाली इंटर कॉलेज के संस्थापक थे,

वे एक बेहतरीन कार्य नियोजक भी थे। इन्होंने 50 वर्ष पूर्व अपने विद्यालय में सुव्यवस्था व सुन्दरता लाने के लिए अथक प्रयास किये। उनके बाद अब यदि परिवेश के प्रति सम्मान का भाव विद्यालय परिवार में संस्थायी तौर से लाने की बात हो तो वही ढाक के तीन पात। आज एंग्लो-बंगाली कॉलेज के मैदान वीरान पड़े हैं।

जब हम सफाई, सुन्दरता तथा पर्यावरण के प्रति सम्मान के सिद्धांतों में बदलाव के तरीकों को खोजते हैं तब हम प्रकृति, इतिहास और संस्कृति से जूझने के लिए विज्ञान, परम्परा और देश पर एक सटीक ढंग से सोचने को बाध्य हो जाते हैं। विज्ञान इसलिए क्योंकि जीने के कुछ तरीकों की स्वाभाविकता को खत्म करने के लिए रोग-विज्ञान और वातावरण-प्रदूषण की समयोपयुक्त व्याख्या जरूरी है। उपनिवेशवाद के खिलाफ लड़ने की प्रथा केवल कुछ सांस्कृतिक विरासतों की बातें करके, जैसे कि प्रकृति पूजा की कहानियां, आश्रमों की बातों, नदी किनारों व वन-सम्पदा की बातों और विभिन्न मौसमों से जुड़ी भावनाओं तक ही सीमित न रहे बल्कि उपनिवेशवाद से पूर्व की प्रक्रियाओं, स्वावलम्बन तथा नागरिक कर्तव्य को भी शामिल करें। राष्ट्र के द्वारा 'संस्कृति' पर काबू किया जाये क्योंकि 'स्व' तथा इस 'स्वयं' पर घमंड की धारणा अधिकांशतः अनुष्ठानों से ही सिखायी जाती है, इसलिए प्रथाओं को इस प्रकार से परिभाषित किया जाना चाहिए जिससे 'स्व' का मान बढ़ सके। हां, राष्ट्र उनके लिए खतरा बन सकता है जिन्हें बहिष्कृत कर दिया गया है परन्तु ऐसे निष्कासन स्वाभाविक न होकर सृजित प्रक्रियाएं होती हैं। प्रथाएं ऐसी परिभाषाएं उत्पन्न कर सकती हैं जो कि आशावादी, अहिंसक और बहिष्करण-रहित हों परन्तु साथ ही एक स्वच्छ, गंदगी-मुक्त पर्यावरण का निर्माण भी करें।

इन्हीं तरीकों की खोज करते हुए समझ आया कि इतिहास हमारी कैसे मदद कर सकता है। उसी प्रकार हम भी इतिहास के लेखन में मददगार बन सकते हैं। बच्चों को रोग के जीवाणुओं तथा वातावरण को गंभीरता से लेना सिखाने का मतलब है कि हम विज्ञान-युक्त व्यक्ति के निर्माण की ओर अग्रसर हैं। ऐसी प्रथाओं का निर्माण करने (जो कि 'हमारी' धरती के प्रति गर्व का अनुभव करायें) का मतलब है एक हद तक राष्ट्रीयता की भावना को जगाना। साहित्य, दर्शनशास्त्र और पौराणिक कथाओं के भण्डार को इस्तेमाल करने का मतलब यह है कि एक हद तक परम्परा की भावना को बढ़ावा देना। वर्तमान में क्रियाशील रहने का अर्थ है हम विज्ञान, राष्ट्रीयता तथा परम्पराओं को सामान्य की तुलना में अधिक गंभीरता से लें। इस तरह की क्रियाशीलता तथा स्थान-निर्धारित उत्तरदायित्व यह बताता है कि हम ऐसे इतिहास को आत्मसात किये हुए हैं जो बीते समय से संबंधित है। और तब हम यह और अधिक सुस्पष्ट

देख पाते हैं कि इतिहास-लेखन बांझ तथा अति बौद्धिक चेष्टा मात्र नहीं बल्कि उसमें कल्पना का मानवीय हस्तक्षेप भी समाहित है। फिर भी अकादमिक लोग एक प्रकार की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के शिकार होते हैं जो उन्हें बीते हुए क्रियाकलापों पर विश्वास कराती है और इतिहास से दूर ले जाती है, जैसे कि वे इतिहास व विश्वास से बिल्कुल बाहर कदम रख चुके हैं, और अपनी स्वतंत्र इच्छा से ही फिर इस पर चिन्तन करेंगे। अतीत से जुड़ाव को मानने की बजाए वे अपने आपको संशयवादी व आलोचनात्मक-प्रतिक्रिया वाला मानते हैं और उनको कल्पना-रहित उपयोगितावादी भावनाओं वाला, गैर आलोचनात्मक-प्रतिक्रिया वाला तथा शंका-रहित करार देते हैं जो अतीत से अपने जुड़ाव में यकीन करते हैं। सरल शब्दों में कहें तो वे कभी इस संभावना को नहीं मानते कि “उस स्थिति में हमने क्या कदम उठाया होता” ?

अकादमिक जगत के वे लोग जो यह समझते हैं कि वे केवल इतिहास या समाज का अध्ययन मात्र कर रहे हैं तथा उससे असंलग्न हैं, उनमें और हममें यही अन्तर है कि वह उन स्थितियों को स्वीकारे बगैर अपनी जगह का निर्धारण कर लेते हैं और कुछ गलतियों के चलते उन गतिविधियों में शामिल हो जाते हैं। जबकि हमें यह सुस्पष्ट है कि हम विज्ञान, बदलाव और राष्ट्रीयता के पक्ष में हैं। हम परानुभूति को एक ऐसे साधन की तरह इस्तेमाल कर सकने की स्थिति में हैं जिसके जरिये हम अतीत और वर्तमान दोनों का अध्ययन कर सकते हैं। तब भी जब हम उसकी आलोचना कर रहे हों या उसे डीकन्स्ट्रक्ट (विखंडित) कर रहे हों।

हमारी धारणा उस विस्मृत शिक्षाविद् से सर्वथा भिन्न है जो किसी युवा द्वारा सड़क पर गंदगी डाले जाने पर दखलअंदाजी करता है। पर उस युवा की इस चेतावनी पर चुप्पी लगा लेता है कि “क्या आपको यह इंग्लैण्ड लगता है ?” और वस्तुतः उसका तात्पर्य होता है कि भारत में एक स्वच्छ वातावरण की मांग करना भारत के प्रति अन्याय के समान है। इसके विपरीत, हमारा सुझाव है कि ऐसे युवा वर्ग को, जो अपने मापदण्ड से दूसरी सभ्यता को देखता है और गंदगी पर नियंत्रण को पाश्चात्यीकरण के तुल्य मानता है, निम्नलिखित विचार सिखाए जाने चाहिए।

इतिहास में एक ऐसा दृष्टिकोण है जो इंग्लैण्ड क्या है तथा भारत क्या है इन मसलों पर बार-बार प्रश्न उठाता है। इंग्लैण्ड और ऐसे कई अन्य देशों में कुछ नियम-कायदे अट्टारहवीं व उन्नीसवीं सदी में बने जो बर्जुआ राज्य द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था तथा जन शिक्षा द्वारा नियंत्रित थे। आज का स्वच्छ, हरा-भरा इंग्लैण्ड (जो हमेशा से ऐसा नहीं था) उसी ने बनाया। हमें एक बर्जुआ राज्य या फिर अयोग्य पूंजीवादी व्यवस्था नहीं चाहिए, परन्तु हमारे पास किस

तरह के विकल्प होंगे यदि हमें लगभग समान रूप से गंदगी-विहीन समाज की जरूरत हो जैसा यूरोप में है, साथ ही साथ यह ऐसा समाज भी हो जिसमें कि लोग समान प्रकार के वर्ग व लिंगभेद रहित लाभ-लोलुपता रहित तथा उपनिवेशवाद रहित भी हों ? जाहिर है कि हमें इतिहास का सम्मान करना चाहिए। सार यह है कि सब प्रकार की बातों को केन्द्र नहीं मानना है। साथ ही यह भी पहचानना जरूरी है कि इतिहास कोई ऐसा खांचा नहीं है जो भाव-रहित ढंग से सब कुछ ढाल दे और ढल भी जाए।

उस युवा का यह ख्याल कि यह ‘अंग्रेजीदाँ’ है और यह ‘भारतीय’ है, क्षणिक और अनैतिहासिक है। परन्तु दूरदर्शिता प्राप्त करने का मतलब है बीते समय व प्रथाओं को जागृत करना जिससे हमें गंदगी के प्रति उदासीनता पर विजय पाने की प्रेरणा मिले। हमें यहां एक सूक्ष्म रेखा का निर्धारण करना है जो कि भारत व पश्चिम के बीच एक अनिवार्य और अनैतिहासिक अन्तर तथा उस काल्पनिक विश्वास, जो भारतीय होने का निर्धारण हमारी संरचनाओं के अनुसार करता है, के बीच है। तात्पर्य है कि हमें उस डर को दूर भगाना है जो परिवर्तन लाने वाले बाहरी का होता है क्योंकि परिवर्तन लाने वाले हमेशा से ही यहां रहे हैं तथा उस डर को कि-ऐसा करते हुए हम नयी प्रथाएं न बना डालें - को निपटाना है क्योंकि यह प्रथाओं के साथ सबसे बेहतर संबंधों में एक है।

गंदगी से संबंधित वार्ता, जो कि सीमित होते हुए भी महत्वपूर्ण है, यह दर्शाती है कि एक प्रांतीय शहर के आधुनिक विद्यालय राष्ट्र-भावना को जगाने में नितान्त असमर्थ हैं क्योंकि वे अनुशासित नागरिक, समाज तथा एकीकृत विश्व के लिए देशवासियों को जरूरी मान्यताएं सिखा नहीं पाए हैं। हमारे विद्यालय उस सड़क-संस्कृति के समक्ष हार चुके हैं जो विद्यालयी वातावरण को सड़कों के भौतिक स्वरूप जैसा बना चुकी है, बजाए इसके विपरीत होने के। फिर भी यह सड़क संस्कृति पूर्णतया ‘सही’ नहीं है जो कि प्रकृति, संस्कृति व इतिहास के एक सम्मिश्रित ज्ञान के आदान-प्रदान से उत्पन्न हुई है। इसे सही करार देने में इतिहासविद् अपनी दृष्टि और सोच को सीमित करते हुए एक जटिल व द्वन्द्वयुक्त प्रक्रिया को केवल एक विशिष्ट जन-सृजन का नाम दे देंगे।

यह अब स्पष्ट हो गया है कि हम समय के ऐसे मोड़ पर हैं जहां रास्ते चुनने का एकमात्र विकल्प है विज्ञान की ओर-जो कि वातावरण के प्रति संवेदनशील हो, टेक्नॉलोजी-जो कि सांस्कृतिक के भाव से मेल खाती हुई हो, और उन्नति-जो कि लिंगभेद एवं तमाम ऐसे भेदभाव को मिटाने पर केन्द्रित हो। हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि कोई कदम न उठाना भी एक निर्णय है - जो कि उपरोक्त योग्यताओं के बगैर विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं उन्नति को समर्थन देता है।

अब यह कदम, जो कि विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा राष्ट्रीयता के पक्ष में है, को भी हमें एक विशिष्ट तरीके से समझना चाहिए। प्रांतीय आधुनिकता की प्रकृति कुछ ऐसी है कि उस इमारत व स्थान को लोग संदेह से देखते हैं जो कि ऊपर वर्णित योग्यताओं में फिट बैठता है और इस शंका से निपटने में बाल-केद्रित होना एक प्रमुख ध्येय बन जाता है। भारत में आधुनिक विद्यालय से आशय है - एक डिब्बे जैसी आकृति वाली बिल्डिंग-जिसका विशाल दरवाजा सावधानीपूर्वक बन्द कर दिया गया है। यह पूर्णतया ठोस व बन्द होना चाहिए, वातावरण से सर्वथा अनभिज्ञ, जहां वस्तुओं की बर्बादी हो, और इसका इस्तेमाल करने वालों के लिए तकलीफदेह हो। पिछले कुछ सालों में विद्याश्रम छोटे से बड़े स्थानों में तब्दील हुआ, और अपनी विशेष बनावट, बांस व मिट्टी की पट्टियों, खुलेपन का अहसास तथा रंग-बिरंगी दिखावट के कारण काफी अलग लगता है। लोगों को शायद ऐसा भय होता है कि यह पर्याप्त 'आधुनिक' नहीं है, और इसलिए वे इसे विचित्र दृष्टि से देखते हैं। वे एक ठोस, डिब्बाबंद आकृति के अलावा और किसी आकार को 'आधुनिक' नहीं सोच पाते हैं। इस प्रोविन्शियल शहर में कोई भी इससे प्रभावित नहीं था।

इस वैचारिक द्वन्द्व की तीन प्रतिक्रियाएं हो सकती हैं। हम यह मान सकते हैं कि 'वे' ऐसे ही हैं और उन्हें अपने सहज तरीकों को मानने दें, और हम अपनी अधिक सहायक संरचना का आनन्द ले, या तो शहर की चारदीवारी में, या फिर अन्य शहरों में, या दूसरे देशों में। यह आंशिक रूप से एक औपनिवेशिक भावधारा है, और यह मान्यता पर्यटकों की होती है या फिर कुछ हद तक मानव विज्ञानियों की। या फिर हम उन पर एक उपकार करते हुए 'उन्हें' शिक्षित या परिवर्तित करें जिसे कि हम उच्चतर जागृति का मापदण्ड मानते हैं। यदि हम गरीबों के साथ बात कर रहे होते तो हम उनकी साधनहीनता को और वैचारिक स्तर को दया की दृष्टि से देखते, और उनकी कुछ प्रारंभिक आवश्यकता की पूर्ति करते। यही रवैया आंशिक तौर पर उपनिवेशवाद का भी था, पर उससे अधिक यह मिशनरियों व सुधारकों का था।

तीसरी बात हम बिना संतुष्टि के, किसी भी समय विशेष में यह मानने को तैयार रहते कि इन सबका कोई सरल हल नहीं है। हम एक ऐसे वार्तालाप के लिए प्रयास करते जहां हम 'उनसे' सिर्फ वार्ता ही नहीं करते, वरन इस समस्या से ग्रस्त सभी लोग एक साथ होकर, एक साथ मिलकर समाधान करते। भाग खड़े होना या उन पर प्रतिक्रिया करना कोई हल नहीं है। सबका मिलकर कार्य करना ही सफलता की कुंजी है, जिसमें बहस, मतान्तर, आपसी प्रयासों में हावी होना, तथा साझा लक्ष्य समझने में समय लगाना, आदि शामिल है। यह लक्ष्य सामान्य बुद्धि द्वारा प्रस्तावित 'बच्चों का स्वास्थ्य व समृद्धि', कुछ ऐसा नहीं हो सकता है बल्कि 'स्वास्थ्य',

'समृद्धि' 'सफलता' इत्यादि तथा निश्चय ही 'बच्चों' से संबंधित आदान-प्रदानों से भरा होगा।

एक उत्तर-औपनिवेशिक विद्यालय वह है जो स्थानीय संस्कृति से प्रभावित नहीं होता, जैसा कि स्थानीय विद्यालय हर समय हो जाते हैं, यह तर्क देते हुए कि 'ऐसी जगह ऐसे लोग' या फिर 'क्या करें, ये लोग ही ऐसे हैं'। ना ही यह स्कूल स्थानीय लोगों पर यह कहते हुए दबाव डालता है कि 'यह जरूरी है'। यह दोनों ही औपनिवेशिक पहल हैं। यह द्वन्द्व को स्वीकारता तो है पर एक दूसरे से अलग किये बिना ही उसका निवारण करता है जो कि औपनिवेशिक-उपनिवेशज रिश्ते का ध्रुव है।

नागरिक व उनके संरक्षक

ऐसे कई विद्यार्थी हैं जो लगातार ही उपलब्धि रहित रहते हैं और उनके संबंध में यह समझना आसान है कि इसका दोष उनके अभिभावकों पर ही है। अति अमीर व लाइलों को छोड़कर, ये उन परिवारों के बच्चे हैं जिन्होंने विद्यालयी शिक्षा को नाम मात्र का महत्व अभी-अभी देना शुरू किया है, जहां दोनों माता-पिता या कम से कम माता तो जरूर अनपढ़ हैं, जहां पिता के व्यवसाय की प्रकृति और जीने का तरीका इसकी इजाजत नहीं देता है कि वे बच्चों को समय दें।

जहां बच्चे कि विलक्षणता का मानक यह है कि वह यदि बचपन में ही काम में नहीं लगा है तो वयस्कों के समान ही 'आजादी व आनन्द' में व्यस्त है। ऐसे माता-पिताओं के साथ बातचीत लगभग असंभव है, ना ही यह उस विद्यालय की जिम्मेदारी है कि उन्हें सिखाने का प्रयास करे और परिवार का पालन करने संबंधी बातों में शिक्षित करे।

हमारे विद्यालय में, हम सतत् प्रयास करते रहने का महत्वपूर्ण काम करते हैं। शहर में पहली बार हमने शिक्षक-अभिभावक वार्ताएं कराईं जहां हम अभिभावकों को बच्चों के प्रति जिम्मेदारियों से संबंधित चर्चाओं में लगाते हैं। स्कूल में शिक्षक नियमित रूप से प्रत्येक बच्चे के बारे में उसकी घरेलू स्थिति को लेकर चर्चा करते हैं।

उपलब्धियां हासिल न कर पाने की समस्या का सही समाधान कक्षायी संरचना में है जहां सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समय दिया जाता है। यदि जरूरत हो तो यह समय बाहर भी दिया जाना चाहिए पर उसे कक्ष का ही एक हिस्सा मानकर। समाधान है कक्षा की गतिविधियों को इतना आकर्षक बना दिया जाए कि, जो सीखने के प्रति उदासीन हैं उन्हें भी प्रेरित किया जा सके। इसका एक और समाधान है, बच्चों के अपने जीवन के अनुभवों के साथ-साथ सीखने योग्य शैक्षणिक क्रियाकलापों का विस्तार।

इस तरह के किसी समाधान के लिए आज के प्रांतीय विद्यालयों में कोई प्रयास नहीं किया जाता। 'कम उपलब्धि' होने का कोई मायना ही यहां नहीं है। बच्चे को सीधा ही 'सुस्त' कह दिया जाता है यदि वह सफल नहीं हो पाता है, और उसके परिवार को 'पिछड़ा'। हमारी कक्षाओं में इस तरह के बच्चों से परिचित होने के पश्चात, हम तमाम विद्यालयों की शिक्षण-शास्त्रीय असफलता को परखने के प्रति अधिक प्रेरित हुए। इस असफलता के कई आयाम हैं। सबसे साधारण है किन्हीं भी चुस्त या आकर्षक तरीकों को कक्षा में प्रयुक्त कर पाने में असफलता। संपूर्ण भारत में इस प्रांतीय घटना का कारण अधिकांशतः 'गरीबी' को माना जाता है। पर शायद इसे इस रूप में बेहतर समझा जा सकता है कि औपनिवेशिक मनोवृत्ति व संस्कृति का अभी तक जारी रहना। शिक्षिका एक औपनिवेशिक वयस्क की भांति होती है: अर्थात् कक्षा में एक जिम्मेदार व स्वतंत्र कर्ता की भांति न रहकर, दूसरों के उद्देश्यों की गुलाम बनी रहती है। अपना कार्य वह अनिच्छा से व गुस्से में करती है, तथा 'उनके' द्वारा प्रस्तावित पाठ्यपुस्तकों एवं पाठ्यक्रम को गलत बताती है तथा, इस

गलती से स्वयं के हुए नुकसान की भी बात करती है। इस स्थिति में उससे यह उम्मीद करना कि पढ़ाने के अधिक कारगर उपायों को बनाये, सर्वथा असंभव है। यहां सरकार एवं शिक्षाविद् परस्पर विरोधी हैं, और बच्चे वे निष्क्रिय जनता हैं, जिनका सरकार द्वारा शिक्षाविदों के माध्यम से शोषण किया जाता है।

भाषाओं एवं विषयों को पढ़ाने की आधारभूत आवश्यकता से अपने आपको दूर कर लेना इन प्रोविन्शियल विद्यालयों की सबसे अधिक जटिल असफलता है। यहां तक की रटन विद्या के तरीकों से भी ये अपने आप को दूर कर लेते हैं। जैसे जैसे वो अपनी जिम्मेदारियों से मुक्त होते जाते हैं, वे एक अपवाद को नियम बना देते हैं 'अपने विद्यार्थियों के लिए प्राइवेट ट्यूशनो का'। इस स्थिति तक आते आते अभिभावक भी अपेक्षा रखने लगते हैं कि उन्हें अपने बच्चों के लिए प्राइवेट ट्यूशनो का भी खर्चा उठाना है, वे समर्थ हों या नहीं हों। अब स्थिति यह है कि इस विषय पर विद्यालय के साथ कोई वार्ता नहीं हो सकती। समानान्तर विद्यालयी शिक्षा या डुप्लीकेट विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था पूरी तरह से अब

तक संस्थागत हो चुकी है, एक साधारण विद्यालय में बच्चा दिन में पांच से छह घण्टे जाता है, और दूसरे भाग में ट्यूटर के साथ शाम, रात या सुबह का समय बिताता है, कभी-कभी तो एक साथ दो समय जाता है।

शिक्षिका एक औपनिवेशिक वयस्क की भांति होती है: अर्थात् कक्षा में एक जिम्मेदार व स्वतंत्र कर्ता की भांति न रहकर, दूसरों के उद्देश्यों की गुलाम बनी रहती है। अपना कार्य वह अनिच्छा से व गुस्से में करती है, तथा 'उनके' द्वारा प्रस्तावित पाठ्यपुस्तकों एवं पाठ्यक्रम को गलत बताती है तथा, इस गलती से स्वयं के हुए नुकसान की भी बात करती है। इस स्थिति में उससे यह उम्मीद करना कि पढ़ाने के अधिक कारगर उपायों को बनाये, सर्वथा असंभव है। यहां सरकार एवं शिक्षाविद् परस्पर विरोधी हैं, और बच्चे वे निष्क्रिय जनता हैं, जिनका सरकार द्वारा शिक्षाविदों के माध्यम से शोषण किया जाता है।

प्रांतीय आधुनिकता का यह हाल है कि प्राइवेट-ट्यूशन आज बहुमूल्य उपभोक्ता सामग्री बन गया है, जिसका खर्चा हर किसी को मुश्किल लगता है पर साथ ही यह संपन्नता के सूचक की तरह भी माना जाता है। जो इन्हें वहन नहीं कर पाते हैं, वे आज एक समतावादी समाज की असली बाधा बन गये हैं, क्योंकि विद्यालय अब इस बात से नहीं जाने जाते कि उनमें खर्च कितना आता है, वरन् इस बात से कि उनके यहां विद्यार्थियों को कितने प्राइवेट ट्यूशनो की जरूरत पड़ती है। तथाकथित अंग्रेजी माध्यम विद्यालयों में आज इतने अधिक प्राइवेट ट्यूशन की आवश्यकता पड़ने लगी है कि वे सीमित आय परिवारों के लिए लगभग बन्द ही हैं।

प्रांतीय आधुनिकता की प्रकृति ऐसी है कि शहर के किसी भी विद्यालय में एक भी अभिभावक संघ नहीं है, या ऐसा कोई अन्य फोरम नहीं है जो कि अभिभावकों

की ओर से बच्चों की जरूरतों पर बात कर सके। हमारा शोध इस आदान-प्रदान में एक आश्चर्यजनक खालीपन दिखाता है। बिना अपवाद के, सभी अभिभावक विद्यालय द्वारा बच्चों पर पूरा ध्यान ना दिये जाने, जरूरत से ज्यादा भीड़वाली कक्षाएं, बेपरवाह शिक्षक, अधिक बोझ वाले पाठ्यक्रम, असंभव की हद तक गृहकार्य जिसमें अभिभावकों की सहायता चाहिए तथा रटना, जैसी शिकायतें करते हैं। जोर दिये जाने वाली कुछ छोटी शिकायतों में है, चौंका देने वाले भारी बस्ते सहित आना व जाना, परन्तु इनमें से कोई भी विषय जनहित चर्चा के स्तर पर नहीं पहुंचा। दूसरी तरफ लगभग सभी शिक्षाविद् व प्रशासनिक अधिकारीगण बिना अपवाद शिकायत करते हैं कि परिजन सहयोग नहीं करते, तथा उनकी अपनी काबलियत भी विद्यालय के मापदण्डों पर इस स्तर की नहीं होती है जो कि उन्हें अपने बच्चों की शिक्षा में भाग लेने की योग्यता दे सके।

यहां अभिभावक व शिक्षक परस्पर विरोधी हैं, और दोनों एक दूसरे पर अपने हिस्से का काम न कर पाने का दोषारोपण करते हैं। यह उस औपनिवेशिक स्थिति के जारी रहने का सूचक मात्र है जहां

कि आधुनिक स्कूल औपनिवेशिक शासन का एक हाथ बनकर सामने आया है और जो एक दूरी से, जनता द्वारा, विस्मृत होकर देखा जाता है। उस विद्यालय के कामकाज पर प्रश्न करने का सवाल ही नहीं पैदा होता था, और अब भी इस बात की संभावनाएं बहुत कम हैं। निश्चय ही, विद्यालयों को 'बेहतर', जो बहुत अधिक अनुशासित विद्यालय है और 'बेकार' इन दो तरीकों से बांटा जाता रहा है। पहला अपनी गतिविधियों में किसी भी प्रकार की दखलंअदाजी बर्दाश्त नहीं करता और अपने 'अनुशासन' का माता-पिता तथा विद्यार्थी सबके विरुद्ध इस्तेमाल करता है। दूसरे वाला विद्यालय स्थानीय होता है जहां अभिभावक अधिक ताकतवर महसूस करते हैं।

मांग और आपूर्ति के बीच एक असंतुलित बाजारू संबंध होने के कारण, विद्यालय इसमें एक महत्वपूर्ण व बहुमूल्य सहयोगी की भूमिका निभाता है जो कि इससे बदतर नहीं हो सकता। संस्कृति, जो कि इतिहास के साथ बनी, इन आर्थिक कार्यों से जुड़ जाती है। स्थान, भाषा, जाति और व्यवसाय पर आधारित संस्थानों द्वारा भी मांग होने पर विद्यालय खोल लिए जाते हैं। एक बार ऐसा शुरू करने पर, यही संस्थान अब बाहरी व संदेहात्मक प्रक्रियाओं के एजेन्ट बन गये हैं। सभी विद्यालय यहां प्रांतीय भारत में, विदेशी व उपनिवेशवादी ताकत बनकर रह गये हैं जिसको कि सबको मानना व अनुसरण करना पड़ रहा है।

हम जोर देकर कहते हैं कि 'स्थानीय' संस्थानों, जो कि परिवार के प्रति सापेक्षिक तौर से उदार होती हैं, हमें और नहीं चाहिए, क्योंकि ये जिस हद तक की हिंसा, आत्मविश्वास का नुकसान तथा सुरक्षा व गतिशीलता की संभावनाओं के नुकसान के जरिये बच्चों को क्षति पहुंचाती हैं, वह अतुलनीय है। ना ही हम उन 'बेहतर' विद्यालयों के विद्यार्थियों के टाई, बेल्ट, मोजे, जूते, बैज और बकल युक्त साज-सामान पर अड़ियल नियंत्रण रखने की वजह से आलोचना कर रहे हैं। इनकी आलोचना हम इसलिए कर रहे हैं क्योंकि वे विद्यार्थियों को आधुनिक बनाने के मिशन को सफलतापूर्वक अंजाम नहीं दे पा रहे हैं। जिस प्रकार से वे गंदगी पर नियंत्रण रखना नहीं सिखाते, उसी प्रकार वे तमाम अनुशासन को भी नहीं सिखा पाते और आत्म-निर्भरता व जिम्मेदारी निभाना जैसा कुछ भी नहीं सिखाते। वे इंग्लिश नहीं सिखाते, जैसा कि ये सब जोर देकर कहते हैं। कुछ विद्यार्थी जो कि इन स्कूलों में ये सब कुछ सीखते हैं वे दरअसल अपने अभिभावकों व प्राइवेट ट्यूटर्स की मेहनत से ही सब सीख पाते हैं। परिवार व बच्चों की पूरी शिक्षा का भार होते हुए भी परिवार के उस अधिकार को नकारा जाता है जिससे कि उसकी सुझाव के स्तर पर या किसी भी अन्य प्रकार से विद्यालयी शिक्षा में भागीदारी होनी चाहिए। भारत में

आधुनिकीकरण के उद्देश्यों पर यह दोहरा आघात है। यह विद्यालय एवं परिवार के बीच औपनिवेशिक दूरी को और आगे बढ़ाता है तथा एक दूसरे को परस्पर विरोधी बना देता है। यह उन परिवारों पर चोट करता है जो कि अपने बच्चों की शिक्षा घर पर नहीं करते हैं या नहीं कर सकते हैं, और इस तरह के परिवार बहुत अधिक हैं। समकालीन भारतीय समाज दो भागों में बंटा है। एक उन लोगों का समूह जो कि अपने संसाधनों द्वारा अपने बच्चों को पढ़ा-लिखा सकते हैं और दूसरे उन लोगों का समूह जो ऐसा नहीं कर सकते हैं और अन्ततः निरुपाय होकर विद्यालयों पर निर्भर करते हैं या फिर असंभव होने की हद तक विद्यालयों से दूर रहते हैं।

एक उत्तर-औपनिवेशिक विद्यालय को चलाना काफी मुश्किल काम है, उतना ही मुश्किल जितना कि इस उपनिवेशवाद की विरासत के चलते किसी भी उत्तर-औपनिवेशिक संरचना को। मगर हमें इतिहास से सबक लेकर कुछ ठोस उपायों को आजमाना होगा।

पहला, एक उत्तर-औपनिवेशिक विद्यालय बच्चों में उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि के आधार पर भेद नहीं करता तथा उन बारीकियों पर भी, जैसे कि विद्यालय के नाम पर दिखावाट पर, स्कूल शुल्क की संरचना पर, स्कूल लिबास पर और सबसे पहले अभिभावकों से घर पर बच्चों को शिक्षित करने की उम्मीद आदि।

तत्पश्चात, नीचे से शुरूआत करते हुए यह उन बच्चों को सीखने के लिए उकसाने का लगातार प्रयास करता है जो कि इसके पहले किताबी ढंग से भी सीखने की पद्धति से रूबरू नहीं हुए थे। इस काम के लिए शिक्षणशास्त्रीय रणनीतियों की एक पूरी शृंखला है, जो कि उद्देश्य स्पष्ट होने के कारण, अथक मेहनत व प्रयासों के साथ विकसित की जाती हैं।

उन बच्चों के डगमग प्रदर्शन के लिए, जो कि ऐसे परिवारों से हैं, जहां पहले से कोई शिक्षित नहीं है और जिन्हें आधुनिक विद्यालय की संस्कृति के विरुद्ध निरन्तर प्रतिरोध करना होता है, ये बच्चे दोषी नहीं हैं।

इस ऐतिहासिक परिस्थिति में हम सब एक साथ हैं, और नई बनी स्थिति के संदर्भ में ऐसा कुछ भी नहीं है जो प्रश्नों के घेरे में न आता हो। इसलिए यह विद्यालय अधिकांश पाठ्यक्रम को तथा कार्यविधि को बदल देता है जिससे कि घर की संस्कृति को अपनाया जा सके, जो कि अन्य किसी भी संस्कृति की तरह आगे किसी भी संभावित उपयोग हेतु संभावनाओं से परिपूर्ण होती है।

राममोहन राय संलक्षण (सिन्ड्रॉम)

राममोहन राय पाश्चात्य ज्ञान के संबंध में सब कुछ सिखाना चाहते थे क्योंकि पूर्वी ज्ञान उस समय पहले से ही उपलब्ध ही था तथा जैसा कि हमने उन्हें समझा है, दोनों जगत से जुड़ना और

सार्वभौमिक बने रहना हमेशा श्रेयस्कर है, बजाए इसके कि एक तरफा होकर कम शक्तिशाली रहना। वे स्वयं इतने पाश्चात्यीकृत नहीं हैं जितने कि पश्चिम के लोग।

यह भारतीय में तभी से मौजूद है, परन्तु इसके क्रियान्वयन के लिए अभी तक किसी ने भी औपचारिक शिक्षण-शास्त्रीय रणनीति के तहत कार्य नहीं किया है। विद्यालय, जो कि इस उद्देश्य की मुख्य कार्यकारी यूनिट है, को कार्यरत से अधिक ताकतवर होकर दिखाना है क्योंकि यह विषयसूची, किताबों, प्रथाओं तथा भाषा को नियंत्रित करता है।

राममोहन राय एक प्रभावी वक्ता/लेखक तथा समाज-सुधारक थे। वे एक शिक्षाविद् नहीं थे, खासकर उस दृष्टि से कि बच्चों को पढ़ाने तथा अपने पढ़ाने के प्रभावों पर चिंतन करने में उन्होंने कई सौ घण्टे नहीं लगाए थे (जैसा कि हम मानते हैं शिक्षाविदों को करना चाहिए)। पश्चिमी शिक्षा की ओर भारतीयों को बढ़ावा देने के पीछे उनका उद्देश्य केवल अंग्रेजी भाषा, यूरोपीय दर्शन, विज्ञान व इतिहास का स्कूलों में प्रवेश कराना था जो कि ब्रिटिश संगठनात्मक मॉडल पर आधारित था और उनके अनुसार अब भारतीय बच्चों को भी इसे पढ़ना चाहिए।

इस मान्यता के साथ समस्या यह है कि यह एक कामचलाऊ समाधान है, यह कोई शिक्षणशास्त्री कौशलयुक्त या तकनीकी समाधान नहीं है। हम इतिहास की निन्दा नहीं कर रहे हैं लेकिन इसे तयशुदा भी नहीं मान रहे हैं। सभी लोग और देश 'विदेशी' कायदे अपनाते हैं तथा नये संश्लेषण गढ़ते हैं जो कि कार्यकारी भी सिद्ध होते हैं और अन्ततः सुरुचिपूर्ण भी। 18वीं शताब्दी में जटिल आर्थिक व राजनैतिक स्थितियों के कारण, भारत में पश्चिमी शिक्षा व विचारों की एक तीव्र लहर आई थी। पर आज की स्थिति को देखते हुए, हम यकीन के साथ नहीं कह सकते कि उन्हें शामिल करना कारगर सिद्ध होगा। यह समस्या सौन्दर्यशास्त्रीय या राजनैतिक मात्र नहीं है। बात उसमें निहित तथ्य की है। ऐसी बात नहीं है कि हमारे पास कोई भी कारगर शैक्षिक हिकमते-अमली या भारतीय विद्यालयी शिक्षा का कोई महान मॉडल नहीं है। बात यह है कि हम सभी मिलकर बहुत ही कम सीख पाये हैं इसलिए मानव संसाधनों की बड़े पैमाने पर बर्बादी हो रही है।

विद्याश्रम में हमारे पास हर पारिवारिक पृष्ठभूमि से आये बच्चे हैं जो कि उतने ही 'भारतीय' है जितना कोई भी और। हिन्दू व मुस्लिम धर्मग्रन्थों से वे सभी परिचित हैं। प्रकृति के प्रति उनका एक सार्वभौमिक दृष्टिकोण है। देहात से उनका संबंध है। वे अक्सर अपने पैतृक गांवों को जाते हैं। हिन्दी व सामान्यतः भोजपुरी अच्छा जानते हैं और अपनी-अपनी पहचान से संतुष्ट हैं। हम, राजा राममोहन राय की तरह इस ज्ञान व हासिल पहचान को पीछे

रखकर अंग्रेजी भाषा, पाश्चात्य विचार, छवि, कहानियां व तथ्यों की ओर उन्हें ले जाते हैं। राममोहन राय की तरह हम यह महसूस करते हैं कि 'भारतीयता' का पर्याप्त ज्ञान उन्हें घर पर ही मिल गया है और 'पश्चिम' की ओर से वे एकदम अनभिज्ञ हैं जो कि 'सार्वभौमिक' है (क्या सच में?)। तो हमें इस कमी को पूरा करने व संतुलन के लिये विद्यालयी समय का इस्तेमाल करना है।

यह शायद एक सरल किन्तु उपयुक्त विवरण है, यह बताने के लिए कि सभी अच्छे विद्यालय, हमारे विद्यालय सहित, राममोहन जी के समय से किस तरह से कार्य कर रहे हैं? (इस सबका क्या तात्पर्य है?)

परन्तु हमारे विद्यालय और बाकी सब में एक अन्तर है। घर व विद्यालय में विभाजन के संबंध में हम सर्वथा असहमत हैं, खासतौर से इस तथ्य को देखते हुए कि विगत 200 वर्षों से ऐसा ही चल रहा है, सिवाय उन धार्मिक विद्यालयों द्वारा दी गयी चुनौतियों के जो कि गैर-धर्मियों को सम्मिलित नहीं करते व अपने ज्ञान की नींव को छोटा कर देते हैं। इस स्थिति में अब हम अगला जरूरी कदम लेते हैं - बच्चों के लिए नई प्रथाएं बनाना, शिक्षकों में अधिक आत्मज्ञान पैदा करना, और दोनों के लिए नई पाठ्य-सामग्री तैयार करना। यह सब 'हम' और 'वे' मिलकर करते हैं ना कि एक-दूसरे के विरुद्ध रहकर। इस कार्य के अतुलनीय पहलुओं को देखते हुए, साथ ही इसकी जरूरत को भी देखते हुए, अब हम समझ सकते हैं कि ऐसा प्रयास अब तक क्यों नहीं हुआ, इसके लिए अब तक का शिक्षणशास्त्र ही नाकाफी था।

राममोहन राय संलक्षण से मूल बातों की ओर जाते हुए पहला प्रयास हम यह कर सकते हैं कि विद्यालयों में पश्चिमी शिक्षा तथा घर में भारतीय शिक्षा का जारी रहना। दूसरा जो कि अधिक उपयुक्त होगा तथा जो इतिहास के विषय में एक निर्दिष्ट समझ की ओर इशारा करता है वह यह कि इन 200 वर्षों में विद्यालयों व घरों में निरन्तर 'युद्ध' होता रहा है, परन्तु कमोबेश दोनों ने ही अपना-अपना कार्य किया है। विद्यालय उच्च आय वर्ग के लिए शक्ति का स्रोत रहे और घर भारत की अधिकांश प्रांतीय और ग्रामीण जनता के लिये। पर यदि हम सीखने के इतिहास को सकारात्मक और उपयोगी मानें तथा देखें कि किस हद तक राष्ट्र को 'संस्थापित ज्ञान के परीक्षण' से लाभ पहुंचा, तथा ये भी कि अंग्रेजी व पाश्चात्य ज्ञान को भारतीय व्यवस्था में जोड़ने से कितना लाभ पहुंचा, (विद्यालय की सफलता, घर की असफलता) तो हम यह देख सकते हैं कि विद्यालय व घर एक-दूसरे के विपरीत रहकर नहीं बल्कि साथ मिलकर अधिक उपयोगी कार्य कर पायेंगे। ऐसा करने के लिये इतिहास से अत्यधिक समता, 'क्या हुआ' की शर्म से उबरना, एक विश्वास कि ऐसा था और हो सकता है, तथा हमारी चेष्टाओं की पहचान, आदि जरूरी है। (यह सब क्या है?)

अनुष्ठानों की ताकत

विद्यालय चलाने का काम एक बार फिर हम सभी को बिना किसी संदेह के यह विश्वास दिला देता है कि प्रतिदिन के अनुष्ठानों की उपयोगिता एक छुपे हुए पाठ्यक्रम की तरह है, अर्थात् यह भी विद्यालयी शिक्षा के प्रति उतनी ही जिम्मेदार है जितना कि घोषित पाठ्यक्रम ।

यह बात एक बार मान लेने के बाद अतीत में की गयी या अब की जा रही चेष्टाओं को, जो कि एक विशेष प्रकार का मानव बनाने या चेतना पाने हेतु की गई, किसी और पैमाने से मापा नहीं जा सकता, बल्कि यह पूछना कि - “क्या उन्होंने उपयुक्त प्रथाओं का सूत्रपात किया”, ही एक मात्र उपाय है । असफलताओं को अधिक कठोरता के साथ जांचना नहीं चाहिए क्योंकि अनुभव बताता है कि उपयुक्त प्रथाओं को गढ़ना बहुत मुश्किल है । परन्तु कोशिशों को परखा जा सकता है, और शिक्षाविदों के बयानों की भी इन कोशिशों के प्रति गंभीरता के लिए विश्लेषण किया जाना चाहिए ।

भारतीय शिक्षा के पूरे इतिहास में कोई भी समूह किसी भी कालखण्ड में, नये औपनिवेशिक निर्माण के समक्ष मशीनी ढंग से झुका नहीं और ना ही बिना सोचे-समझे औपनिवेशिक नागरिक के किसी अन्य समतुल्य मॉडलों का अनुसरण किया । समूहों ने जो कि स्थान-जाति-भाषा या व्यवसाय या मान्यताओं पर आधारित हैं, सभी ने मिलकर इसका प्रयोग किया ।

उन्होंने नामकरण करने की शक्ति तथा विभिन्न माध्यमों से अर्थ निकालने की शक्ति को समझा । उनकी इच्छा थी नामों, चिन्हों तथा प्रथाओं को चुनने, जोड़ने तथा अपनाने की । ताकि वे अपने कार्यों में इन्हें ले सकें । परन्तु जहां तक इतिहास हमें बताता है, विद्यालयी शिक्षा के संबंध में उन्होंने शिक्षाशास्त्रीय ज्ञान नहीं दर्शाया । स्कूलों में आज भी यही कमजोरी मौजूद है । शिक्षक आज भी उस भारतीय नागरिक के संबंध में दृढ़ व्याख्यान देते हैं जिसे कि वे तैयार करना चाहते हैं । परन्तु ऐसा चमत्कार कैसे होगा, इस विषय पर उन्होंने कुछ भी विचार नहीं किया । निश्चय ही, आधुनिक भारतीय शिक्षकों को आज भी यह तय करना होगा कि किस तरह के विरोधाभासी संदेशों को वे अपने छात्र-समूह के समक्ष प्रस्तुत करना चाहेंगे ।

एक आधुनिकता की तरफ अग्रसर राष्ट्र हमेशा ही प्रथाओं की शक्ति द्वारा युवा वर्ग में वांछित मूल्यों के विषय में जागरूकता

लाने का सीधा प्रयास करता है । हमें आज भारत में यह तय करना है कि, वे कौन से मूल्य हैं ? इस बारे में हमारा यह ज्ञान कि हम आज भी मूल्यों के बारे में किसी तरह कुछ सीख रहे हैं, जो कि केवल स्वाभाविक रूप से नहीं है, यह बोध हमारे निर्णयों व विकल्पों को गति देता, परन्तु ऐसा बोध ही हमें नहीं है । अमेरिका के किसी विद्यालय में मात्र एक दिन का अवलोकन यह स्पष्ट कर देता है कि वहां लगातार जिन मूल्यों के बारे में सिखाया जा रहा है वे हैं - व्यक्तिवाद, प्रतिद्वंद्विता, उपभोक्तावाद, पर्यावरण-मित्रता, और ‘हम’ का ऐसा बोध जो कि एक आधुनिक, सही सोच वाले तथा उन्नत अमेरिकन की पहचान है । प्रांतीय भारतीय विद्यालय के एक दिन का अवलोकन हमें यह मानने की दिशा में ले जायेगा कि यहां सिखाये जाने वाले मूल्य हैं: आसपास के प्रति उदासीनता, शिक्षक के अलावा अन्य किसी सत्ता का अनुपस्थित होना, स्व-मूल्य के प्रति कोई भी भावना न होना, निर्देशों का बुद्धिहीनता से अनुसरण, सब समय जाँचे जाते रहने की उम्मीद, और ‘हम’ का बोध, जो कि मूल्यवादी तो है परन्तु इसके साथ अनिश्चित तथा घर से नियंत्रित होने वाला भी है ।

इन सबको बदलने में प्रयास के लिए, जैसा कि ऊपर कहा गया है, विद्यालयी शिक्षा से जुड़े सभी लोगों को इस समस्या के बारे में ज्ञान होना चाहिए । परन्तु ‘पूर्व-पश्चिम’ के तुलनात्मक विश्लेषण की यह सरलतम तकनीकी मुश्किल भी किसी को ज्ञात नहीं है । एक मध्यम श्रेणी भारतीय

शहर के कुछ सौ विद्यालयों में ट्यूनिंग, टाई, बेल्ट, बकल, मोजे व जूतों के साज-सामान के द्वारा प्रातः असेम्बली, परेड, हाथ उठाना, दरवाजों पर रुकना इत्यादि प्रथाओं का पालन किया जाता है । इन सबके पीछे का खोखलापन केवल कुछ लोग जिनके पीछे ठोस विचारधारा होती है वे ही महसूस कर पाते हैं । उदाहरण के तौर पर गांधीवादी राष्ट्रीयता वाले, अल-ए-हदीस जैसे इस्लाम सुधारक, या फिर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का हिन्दू । वे दृढ़तापूर्वक उन ‘पाश्चात्य वस्तुओं’ का विरोध करते हैं जो कि हमारे यहां की आबोहवा या संस्कृति से मेल नहीं खाते, परन्तु वे इस बात को समझ नहीं पा रहे कि उन्हें इन सबके विकल्प खोजने होंगे, ना कि वैदिक, कुरान या पारम्परिक पुराने ग्रामों में वापस जाने से इसका हल प्राप्त होगा । बाकी एक शहर के सभी शिक्षक और अभिभावक, वे चाहे जिस भी लिंग, आयु, समूह, के हो, केवल उस ‘कॉन्वेन्ट’ रूपी पैकेट के बारे में ही समर्थन के स्वर देते हैं । ये उपनिवेश द्वारा

मांग और आपूर्ति के बीच एक असंतुलित बाजारु संबंध होने के कारण, विद्यालय इसमें एक महत्वपूर्ण व बहुमूल्य सहयोगी की भूमिका निभाता है जो कि इससे बदतर नहीं हो सकता । संस्कृति, जो कि इतिहास के साथ बनी, इन आर्थिक कार्यों से जुड़ जाती है । स्थान, भाषा, जाति और व्यवसाय पर आधारित संस्थानों द्वारा भी मांग होने पर विद्यालय खोल लिए जाते हैं । एक बार ऐसा शुरू करने पर, यही संस्थान अब बाहरी व संदेहात्मक प्रक्रियाओं के एजेंट बन गये हैं ।

उद्गमित, सैद्धांतिक अंग्रेजी माध्यम की विद्यालयी शिक्षा देते हैं, और सबसे सरलतम, व सबसे गलत समझे गये पक्ष को, चुनौती देने के विषय में सोचेंगे भी नहीं।

हम उन्हें 'गलत' इसलिए नहीं कह रहे हैं कि हमें 'शुद्ध' अच्छा लगता है। समन्वीकरण तथा प्रजनन की प्रक्रियाएं ही इतिहास बनाते हैं तथा इन्हें ही केन्द्रीय मानना चाहिए, ना कि इसके क्रियान्वयन की परिधि मात्र। एक व्यक्ति का अनुभव ही तय करता है कि केन्द्र कहां होना चाहिए, और उसके अनुभव के 'संकरित' होने की संभावना कितनी अधिक है। परन्तु शक्ति की तुलना से, जो कि आर्थिक व चिन्हरूपी भी है, विजेता व पराजित का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। अतएव, भारतीय इतिहास पूरी तरह से, प्रभुत्वता व समझौतों, आक्रमणों व प्रतिउत्तरों, आदान-प्रदान समायोजनों से भरा हुआ है। उपनिवेश कालीन शासन के दौरान यह हिंसा बड़े पैमाने पर हुई। परन्तु केवल अति कमजोर समूहों पर ही। परिणामस्वरूप, उपनिवेशवादियों व राष्ट्रवादियों, दोनों ही तरफ लक्ष्य से भटकन है। औपनिवेशिक शासन द्वारा प्रतिपादित आधुनिकता व अनुशासन भी पूरी तरह से फलीभूत न हो पाया और ना ही राष्ट्रवादियों द्वारा प्रतिपादित 'भारतीय' आधुनिकता का सूत्रपात हुआ।

जैसा कि राष्ट्रवादियों व बुद्धिजीवियों की समझ है, कि पाश्चात्यीकरण ही असली समस्या है, और हम लोग अभी भी नकल करते हैं, ऐसा नहीं है। समस्या है कि अभी भी एक खालीपन व्याप्त है। बच्चे तथा उनके शिक्षक व अभिभावक भी यह नहीं जानते हैं कि वे एक खास तरह का पहनावा क्यों पहनते हैं, या बार-बार एक खास तरह से ही क्यों व्यवहार करते हैं। घर व बाहर की प्रथाओं व मान्यताओं से विद्यालयी प्रथाएं अलग-थलग हैं और बच्चे उन सबसे विमुख व गैरकल्पनाशील हैं।

इस प्रकार प्रथाओं व प्रतीकों के अर्थहीन हो जाने पर, बच्चे स्वयं उसे महत्व देते हैं जो कि "यह हमसे अपेक्षित है" तक सीमित हो जाता है। "वैसा करो जैसा कहा जाए, नीची गरदन करते हुए अपने-अपने काम में लग जाओ।" औपनिवेशिक शिक्षा इस प्रकार शिक्षित भारतीय को दोहरा चेहरा देती है व देती आ रही है : सार्वजनिक तौर पर 'हां' और मन में 'ना' से।

हमारी गतिशील आदतें हमें यह स्पष्ट बताती हैं कि शास्त्रीय शिक्षा से क्या छूटा जा रहा है कि प्रथायें व प्रतीक हमेशा से बनते व परिवर्तित होते आए हैं ना कि स्वाभाविक रूप से बने हैं। भूतकाल के एक विशेष हिस्से में जाने पर, जो कि ब्रिटिश शासन काल था, एक जिज्ञासु यह पाएगा कि चिन्हों के निर्माण का एक समय अवश्य ही था, पर फिर इस नतीजे पर आएगा कि पुरानी संरचनाएं स्वाभाविक थीं। विद्यालयी शिक्षा से जुड़ाव यह सिखाता

है कि हर समय, जैसा कि आज भी, नेता, सुधारक, और शिक्षाविदों ने प्रतीकों के विषय में गतिशील निर्णय लिये। और जहां-जहां वे सावधान नहीं रहे, उन्होंने गलतियां कीं।

यह बहस बदलाव के बारे में है। एक औसत शिक्षक, जो कि उन वयस्कों की श्रेणी में आता है जो कि बिना विचार किये संरचनाओं की आलोचना या तरफदारी करते हैं, उनसे विद्यालयी शिक्षा संबंधी सुधारों की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। केवल एक गुणवान व अनुभवी शिक्षक ही ऐसा कर सकता है जो कि कक्षा से उपजे ज्ञान को आत्मसात कर सका हो अन्यथा यह एक उत्तर-औपनिवेशिक विचारक रह जाता है जो कि प्रथाओं और वस्तुओं के प्रति अपनी समझ का, भविष्य के निर्माण के लिए समकालीन दौर में, अतीत के साथ समझौता करता है।

शिक्षक की शक्ति

प्रथायें, प्रतीक व दर्शन, यही सब एक विद्यालय के बारे में धारणाएं देते हैं और प्रत्येक शिक्षा व्यवस्था इन्हीं के द्वारा अपना हक व ताकत कायम रख पाती है। 19वीं शताब्दी तक, उच्च वर्ग हेतु संस्कृत शिक्षा व सामान्यजन हेतु 'पाठशालाओं' की व्यवस्था इतनी अधिक मजबूत थी कि उसमें बदलाव सोचना मुश्किल था। फिर भी यह बदला और दूसरी व्यवस्थाओं को स्थान मिला। इतिहास की परिवर्तनशीलता पर एक साधारण टिप्पणी के साथ-साथ, यह हमें विद्यालयी शिक्षा के विषय में भी सिखाती है तथा जिन विद्यालयों का उदय हुआ है वह भी इतिहास के बारे में बताते हैं।

संस्कृत शिक्षा तथा देशज शिक्षा से औपनिवेशिक शिक्षा तक का बदलाव हमें बताता है कि किस प्रकार शिक्षक के हाथों से शक्ति शासन तक चली गई। विद्या की शक्ति का स्थान पाठ्यपुस्तकों ने ले लिया और शब्द की शक्ति अब परीक्षाओं के हाथों में चली गई।

क्या होगा, यदि आज 2000 वर्षों के पश्चात हम एक उलटी प्रक्रिया की शुरुआत करें और शिक्षक की शक्ति को फिर से स्थापित करना चाहें ? यही हमारा उत्तर-औपनिवेशिक विद्यालय करने में प्रयासरत है, और हम कम से कम तीन समस्याओं का सामना कर रहे हैं ; पहला, ब्रिटिश लोगों से विपरीत, जो कि अपनी पृथक व्यवस्था की मान्यताओं के साथ आए थे। जबकि हम सभी हमारी व्यवस्था में पले-बढ़े हैं; प्रत्येक व्यक्ति जो कि भारतीय है वह इसी शिक्षण व्यवस्था से गुजरा है, जो कि हम पहले बता चुके हैं, और इसके एक विचित्र प्रभाव से प्रभावित हैं, - आदेशों का पालन, पर-निर्भरता, स्व-मूल्य का कम बोध, इत्यादि।

पुनरुत्पादन के चक्र से मुक्त होने के तरीकों की समझ अभी उतनी विकसित नहीं हुई है। ज्यादा से ज्यादा हम यह समझ पाये

हैं कि उत्तर-औपनिवेशिक से हमारा तात्पर्य उस विचारशील बुद्धिजीवी व्यक्ति से है जो कि औपनिवेशिक व उससे उत्पन्न विमर्शों को रहस्य-रहित (डिकन्स्ट्रक्ट) करने में लगा हुआ है। यही हमारा समाधान भी है, और जिस बारे में इन बुद्धिजीवियों में उत्तर-औपनिवेशिक दूरदर्शिता का सर्वथा अभाव है : यही कि इतिहास रुकता नहीं है और हम इससे बाहर नहीं हैं।

दूसरी समस्या है कि हमें एक बहुत प्रभावी आर्थिक व राजनैतिक शक्ति की आवश्यकता है जो कि हमें अपने अधिकार दे, जैसा कि ब्रिटिश लोगों के पास था जब उन्होंने अपना अधिकार पाया था। तृतीय, हमें उस सांस्कृतिक मंच पर लड़ने की आवश्यकता है जो कि लोगों के दिलों से यह ख्याल निकाल सके कि औपनिवेशिक तरीकों से ही विद्यालय चल सकते हैं। यह धारणाएं काफी ताकतवर हैं क्योंकि ये मानसिक धारणाएं और संबंध तब भी बने रहते हैं जब कि उनके पीछे से उस संवैधानिक अधिकार का हास हो गया हो, (खासकर तब जबकि वह शक्ति अपने स्थान से हट गई है)। अतएव, हम यदि उस शक्तिशाली सरकार के होने की कल्पना भी करें जिसके पास पर्याप्त आर्थिक स्रोत हैं, तब भी हमें उस विश्वास के लिए समर्थन जुटाने होंगे जो कि वर्तमान शिक्षण पद्धतियों के विषय में प्रचार कर सके। यह ज्ञान हमें इतिहास को बेहतर समझने में मदद करता है। अब हम यह मान सकते हैं, कि ब्रिटिश लोगों को अपनी विद्यालयी व्यवस्था को हमारे देश में पूर्व उपस्थित भारतीय व्यवस्थाओं के रहते स्थापित करने में काफी प्रयास करने पड़े थे।

उन्हें काफी समय लगा और धीमे चरणों में उनकी सांस्कृतिक स्वीकृति का विकास हुआ। विभिन्न प्रांतीय शहरों में उन्हें विभिन्न कारणों से विरोध झेलना पड़ा। और जब इसे स्वीकृति मिली, तो इसमें कुछ परिवर्तनों के बाद इसे पूरी तरह मान्यता मिल गयी।

19वीं शताब्दी के ब्रिटिश प्रयासों की तरह हम भी वैसी ही मुश्किलों का सामना कर रहे हैं। परन्तु एक और गंभीर समस्या की तुलना भी जरूरी है, और हम उसके एक संभव समाधान के साथ इस बात को खत्म करना चाहेंगे। औपनिवेशिक प्रक्रियाओं का यह औचित्य हो सकता है कि उस समय स्थित व्यवस्थाओं को पीड़ायुक्त मानते हैं तथा अपना 'कर्तव्य' समझते हैं कि बच्चों के हित में इसे बदलें। यद्यपि हम यहां ऐसे किसी भी एजेण्डा का अभी जिक्र नहीं करना चाहेंगे। औपनिवेशिक कदम पूर्णतया राजनैतिक कहा गया; उन्हें दरअसल सस्ते बाबूओं, पाश्चात्यीकृत उपभोक्ता बाजार, समर्पित जनता व ब्रिटिश साम्राज्य को स्वीकार करने हेतु एक ऐसे बड़े वर्ग की जरूरत थी जिन पर मत-आरोपित किया जा सके। और हम? क्या हम कम राजनैतिक हैं? हमें शायद उस आधुनिकीकृत बुर्जुआ, कार्यकुशल मजदूरों व शांत जनता की आवश्यकता नहीं है जैसा

कि आज के भारतीय स्कूलों में है? ये प्रयास तो करते हैं पर असफल हो जाते हैं। पर हम पर्यावरण रक्षा कार्य पर ध्यान, अपने जीवन पर नियंत्रण और दूसरों के प्रति जिम्मेदारी, कल्पनाशीलता की आदत तथा उपलब्धियों, जैसे मूल्यों को बच्चों के बीच सिखाना चाहेंगे। यह उन औपनिवेशिक लक्ष्यों से कम राजनैतिक नहीं हैं, केवल भिन्न हैं। हम इन्हें औपनिवेशिक व आधुनिक धारणाओं से बहुत अधिक बेहतर मानते हैं, पर फिर भी, जिस प्रकार से वे प्रोविन्सों के असहिष्णु भारतीय वयस्क तथा हम शिक्षकों में विरोध पैदा करते हैं, वह देखते हुए यह भी 'औपनिवेशिक' ही है।

इसलिए शायद तथ्यों के द्वारा हम उपनिवेशवाद पर काबू नहीं पा सकेंगे। समसामयिक समस्याओं में हस्तक्षेप से, इतिहास व जीवन में क्रियाशीलता से, चूंकि यह आक्रामक हो जाता है व दूसरे के विश्वासों और अधिकारों की हानि करता है, अतएव कुछ सीमा तक औपनिवेशिक है। इससे कोई खास फर्क नहीं पड़ता कि वह उद्देश्य कितना महान है। (यह गलत है।)

यह केवल प्रक्रिया में ही संभव है कि हम उत्तर-औपनिवेशिक हो सकते हैं। विद्यालयी शिक्षा भी एक प्रक्रिया है, और औपनिवेशिक है। इससे बढ़कर हमें विद्यालयी शिक्षा को विभिन्न स्तरों पर चलाना होगा जो केवल वयस्कों द्वारा बच्चों के लिए नहीं हो। फिर निम्न संबंधों के सभी स्तरों पर कोई भी समझौता नहीं होना चाहिए; सम्बोध्य-जन सुधारकों, तथा उस क्रिया का जिससे सुधार होना है। उत्तर औपनिवेशिक होना एक कभी ना खत्म होने वाली चुनौती है। शिक्षकों पर उनके पढ़ाने के समयों में दूसरी अपेक्षाएं रखना गलत है जैसा कि पहले उनसे जबरदस्ती की गई थी। उन्हें इस जिम्मेदारी व अपेक्षाओं की शक्ति को समझना होगा, और अपनी आवश्यकताओं के मुताबिक ढलना होगा (तात्पर्य है कि वे इसमें नाकामयाब हो सकते हैं या, सीधा मना कर सकते हैं)। घर में कामवालों को इसके लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है कि वे घर को सिर्फ इसलिए साफ रखें कि यह देश की वर्तमान जरूरत है। उनके पास इसकी गुंजाइश होनी चाहिए कि वे अपना पसंदीदा काम सीखें व करें। बच्चों को सिर्फ इसलिए पंक्तिबद्ध न खड़ा करवाया जाए कि ऐसा अनुशासन के कुछ तरीकों में से है, यह कुछ लोग मानते हैं। उन्हें वयस्कों द्वारा पर्याप्त समय देना होगा जिससे कि वे आपस में उन प्रथाओं को विकसित कर सकें (और ऐसा करते हुए अनजान चुनौतियों का सामना करें)। पराजय के प्रति सहिष्णु होना होगा जिससे कि परिवर्तन का बीज अंकुरित हो सके। इतिहास की भाषा में पराजय स्थायी नहीं है। हमारा विद्यालय 'उत्तर औपनिवेशिक' है क्योंकि यह इस तरीके में विश्वास करता है। यह शायद तात्कालिक तौर पर आधुनिक, औपनिवेशिक परिवेश पर जीत न हासिल न कर सके। पर यह, धीरे-धीरे ही सही, परिवर्तन लाने में सफल होगा। ♦